मेरी अपनी दुनिया

विष्णु चिंचालकर

(नई दुनिया, दीवाली 1984)

अजी, कभी आप मेरे घर नहीं पधारे। आपने तो केवल सुन ही रखा है कि मेरा घर 'एक अजीब सा कबाड़ खाना है। कई तरह का अटाला और कई प्रकार की ऊट-पटांग चीजें जहां-तहां बिखरी हुई आपको दिखाई देंगी' वगैरा-वगैरा। वास्तव में इसमें झूठ कुछ भी नहीं है। परंतु मैं आपको विश्वास दिलाता हूं कि इसी कबाड़-खाने में आपको कुछ दिलचस्प बातें भी दिखाई देंगी। इतना ही नहीं वे ऊट-पटांग चीजें आपका मनोरंजन भी करेंगी। और उन्हीं चीजों को घुमा-फिरा कर यदि मैं कुछ करतब कर दिखाऊं तो आप अचम्भित भी हो सकते हैं। परंतु हां, केवल मनोरंजन या अचम्भित करना ही मेरा इरादा नहीं है। उसके परे भी जो एक विचार है, दर्शन है उसे आप तक पहुंचाने के लिए ही यह सारी उधेड़-बुन है।
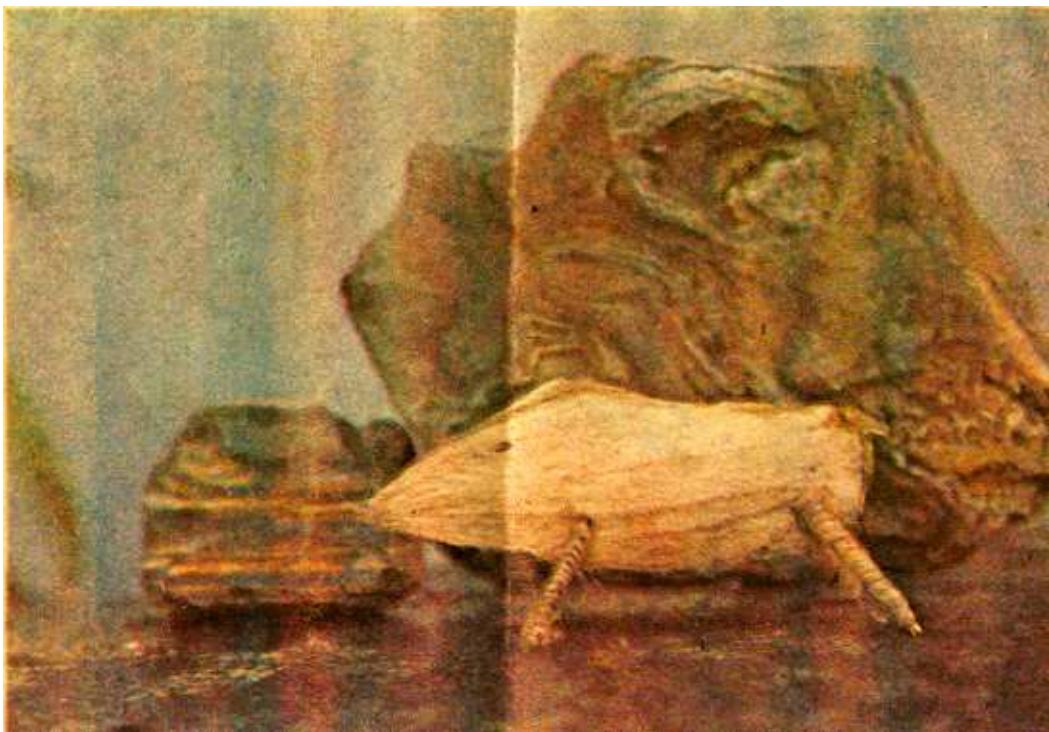
वैसे इस कबाड़-खाने में कोई भी परिचित या अजनबी आता है तो मेरे यह साथी (हां अब वे सारी चीजें मेरे लिए निर्जीव अटाला नहीं बल्कि मेरे आसपास फैले हुए सदैव मेरा साथ देने वाले साथी ही तो हैं।) स्वयं ही अपना परिचय दे देते हैं। परंतु उनकी कुछ छिपी हुई खूबियां विस्तारपूर्वक बताने में मैं जरा भी आनाकानी नहीं करता। मेरे इस उत्साह का मित्रों द्वारा मजाक भी उड़ाया जाता है। पर मैं हूं कि बाज नहीं आता। कारण मेरी आंतरिक इच्छा है कि उनके द्वारा जो सुखद अनुभूति मुझे हो पाई उसमें वे भी हिस्सा बंटाएं और उनके अनछुए, नजरंदाज किए गए पहलुओं की ओर उनकी ध्यान जाए। केवल किसी एक खामी के कारण वे तिरस्कृत न हों। अब मेरे इस प्रयास में कहां तक मैं सफल हो पाता हूं इसका अंदाज लगाना कठिन है। क्योंकि सफलता तो निर्भर करती है दर्शकों की मानसिकता पर, उनकी संवेदनशालता पर और क्रियांवयन करने की क्षमता पर। परंतु हां, मेरी आम की गुठली में बना चित्र देखने के बाद कोई व्यक्ति आम खाने के बाद गुठली फेंक देने के पूर्व रुक कर यदि एक क्षण के लिए भी उसे गौर से निहारे तो इसे मैं अपनी आंशिक सफलता मान सकता हूं। परंतु मेरी टूटी हुई चप्पल की मोनालिसा देखने के बाद अपनी टूटी चप्पल यदि कोई मेरे ही पास भेज दे तो फिर सिवाय माथा ठोक लेने के मैं कर भी क्या सकता हूं।

'भई यह तो आपकी नजर है। हम कहां देख सकते हैं। अपने तो बूते की बात नहीं।' इस प्रकार की दलील का मतलब माने प्रयास करने के झंझटों से छुटकारा।

मैं तो हमेशा ही कहता हूं कि इस प्रकार की नजर केवल मेरी ही बपौती नहीं है। हर बच्चे के पास वह होती है, आपके पास भी वह है। एक तो उसकी जानकारी आपको नहीं है या उसे आजमाने का प्रयास आपने नहीं किया। मैं वही बातें तो करता हूं जो बचपन में एक बच्चा भी करता रहता है। जब वह पकौड़ी में मुर्गा या बतख की शक्लें देखकर मां को दिखाने का प्रयास करता है तो उसे मिलती है चपत और यदि मैं गुठली में सुअर या किसी साधु का चेहरा दिखाता हूं तो मेरी नजर की तारीफ होती है। यह भी कोई न्याय है? सड़क पर या बगीचे में घूमते हुए अजीब सी लगने वाली चीजें वह भी बटोरता है और मैं भी। क्या फर्क है? फर्क तो केवल इतना कि उन्हीं चीजों को बड़े भी समझ पायें इस ढंग से उसे प्रस्तुत करने का तरीका। अब वयस्क होने के नाते मुझे इनाम तो नहीं मिलता। परंतु हां मजाक अवश्य उड़ाया जाता रहा है मेरी इन बचकाना हरकतों का।

हर बच्चे में, और इसी लिए हर व्यक्ति में यह नजर प्रकृति ने दे रखी है। लेकिन इस बात की जानकारी, यह अहसास उसे नहीं होता और न कभी वह उसे जानने का प्रयास भी करता है। अब साधारण सा उदाहरण लें।

जब मैं दर्शकों को अपनी कृतियां दिखाता हूं तो आमतौर पर उनकी एक ही प्रतिक्रिया मुझे दिखाई देती है। बादलों में तथा पानी के धब्बों के कारण या रंगों की परतें उखड़ जाने के कारण बिगड़ी हुई पुरानी दिवारों पर दिखाई देने वाले चित्रों की स्वीकारोक्ति। अब जरा गौर कीजिए, क्या वास्तव में वहां चित्र होते हैं? वहां तो होते हैं बादलों के कुछ टुकड़े या पुंज और धब्बे। बस इसी पुंज के सहारे तो अपने मनचाहे और परिचित चित्रों का निर्माण अपनी-अपनी कल्पना शक्ति के सहारे हर व्यक्ति कर लेता है। हर व्यक्ति के अंदर विद्यमान जो एक छिपा हुआ चित्रकार होता है वही तो यह चित्र बनाता है। उस छुपे हुए चित्रकार को प्रगट होने के लिए आसमान के बादल या दीवारों के धब्बे बहाना मात्र हैं।

किसी चीज पर दूसरी चीज के टकराने पर उसमें से आवाज निकलती है यह तो हम सब जानते हैं। यदि चीज ठोस होती है तो एक प्रकार की आवाज निकलेगी। धातु की हो तो भिन्न आवाज निकलेगी, मतलब जिस जाति की आवाज प्रकृति ने उसमें दे रखी है वही तो निकलेगी। परंतु यह आवाज ध्वनि या नाद होता है सुप्त रूप में छिपा हुआ। प्रगट होने के लिए बाहर की किसी टकराहट की आवश्यकता होती है। कहावत भी है, 'एक हाथ से ताली नहीं बजती'। तो इस प्रकार की टकराहट करने के लिए अंदर की छिपी शक्तियों को प्रगट करने के लिए हमारे आसपास के वातावरण की हरेक चीज तैयार है। बशर्ते उसे प्रतिसाद देने के लिए, संवाद स्थापित करने के लिए संवेदन क्षमता हो। वह तो अनेक कुप्रभावों के आवरण के परतों के नीचे दबकर शिथिल हो जाती है।
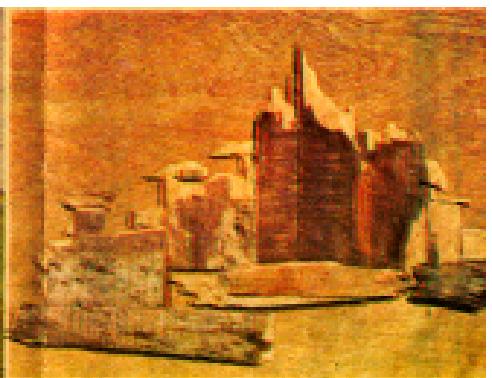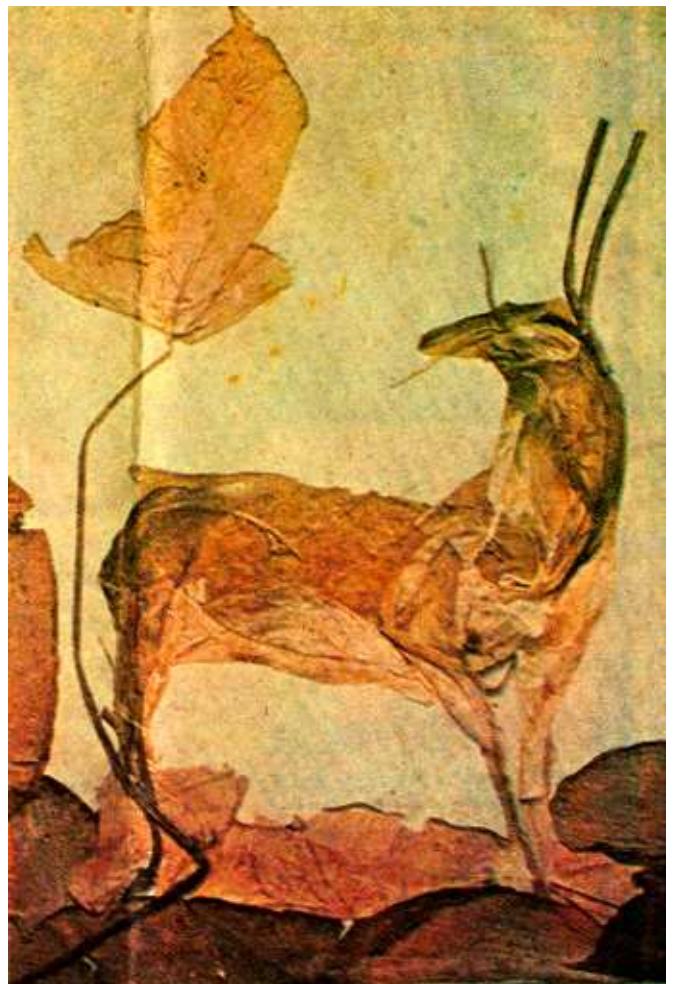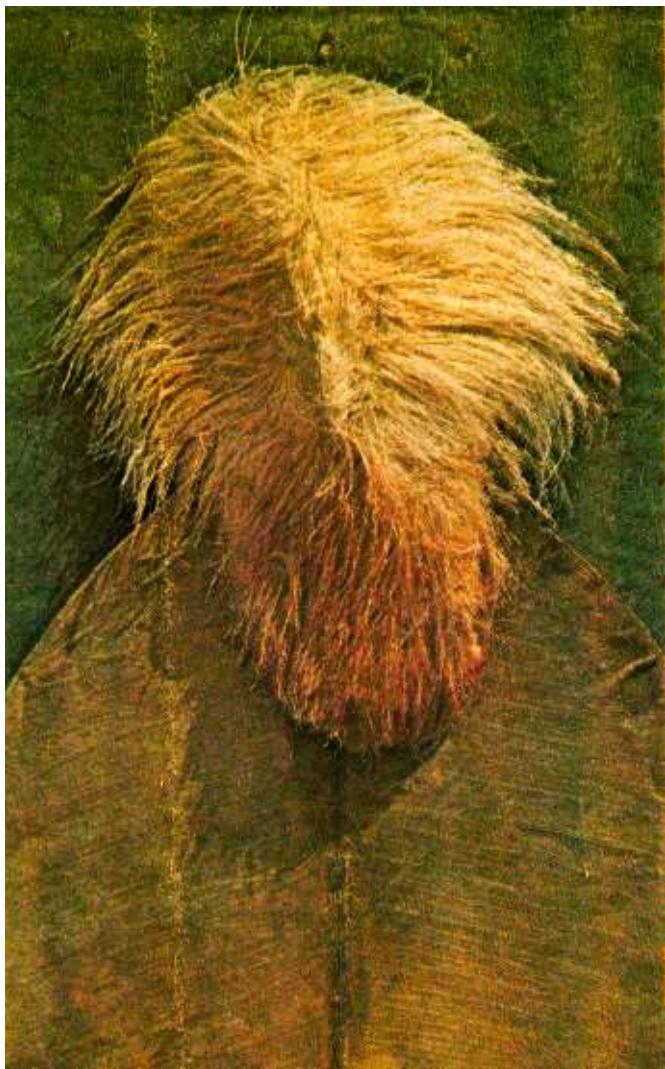
बच्चे का दिमाग इस माने में पूरा संवेदनक्षम होता है। कुप्रभावों से अछूता। परंतु धीरे-धीरे वयस्कों के अनावश्यक दबावों के कारण संवेदनशीलता के कम होने का खतरा बना रहता है। अधिकांश रूप में यह देखा गया है कि वयस्क, फिर वह पालक हो या शिक्षक अपनी बातें शिक्षा के रूप में बच्चों पर थोपते है, अपनी इच्छा या महत्वाकांक्षा के अनुरूप ढालना चाहते हैं। और इस दबाव के कारण बच्चे की प्रवृत्ति बाहर उभर की बजाए अंदर-की-अंदर दब जाती है। उसे प्रकट होना का अवसर ही नहीं मिलता। उसके स्वाभाविक विकास की गति रुक जाती है।

हमारी यह पक्की धारणा बन चुकी है कि बच्चे के रूप में प्रकृति ने एक अज्ञान का लोंदा हमारे सुपुर्द किया है और उसे हमें आकार देना है और बिल्कुल शुरू से ही एक विशिष्ट आकार देने की, उसमें ढालने की यह प्रक्रिया शुरू हो जाती है। मैंने तो यह पाया है कि सिखाने के प्रयास में कोई सीखता नहीं। वह तो सीखता है स्वयं के प्रयास से। उसके अंत प्रेरित प्रयास में यदि हम केवल सहयोग दें ताकि उसका प्रयास आसान हो तो उसका सही ढंग से विकास होने की संभावना अधिक है।

बच्चे की संवेदन क्षमता टिकाए (बनाए) रखना कल्पना शक्ति बढ़ाने के लिए पूरा अवसर देना और ऐसे अवसर निर्माण करना ताकि उसे प्रोत्साहन मिलता रहे और अपने आसपास के वातावरण के बारे में ही जागरूकता निर्माण करना इसे मैं महत्वपूर्ण मानता हूं और इसीलिए जब कभी मुझे कोई अपने बच्चे को सिखाने के लिए कहता है तो मेरा एक ही निवेदन होता है 'भई, बच्चो को सिखाने की गुस्ताखी मैं नहीं करूंगा। उससे तो मैं खेलूंगा। उसके साथ खेलने पर वह खुद ही अपनी क्षमता के अनुरूप सीख लेगा'।

सिखाने की वास्तव में आवश्यकता है वयस्कों को। ताकि वे बच्चों की सीखने की स्वाभाविक प्रक्रिया में अनावश्यक दखलंदाजी नहीं करें, बल्कि सहयोग दें। यह मेरा अपना अनुभव है। मैं भी तो खेलते-खेलते ही सीखा। जब मुझे एक गुरु ने कहा, 'Teaching is cheating; Real teacher is nature.'

तो बात मुझे जंची और मैं प्रकृति की शरण में गया। धीरे-धीरे बात समझ में आने लगी। प्रकृति की इस पाठशाला में कोई भाषणबाजी नहीं है और न किसी विशेष बात को जानबूझ कर थोपने का प्रयास। वहां की हर चीज अपने-अपने तरीके से नियमित रूप से काम करते रहने का कार्यक्रम जारी रहता है। बस आप उसे निहारते रहें, उसे समझने का प्रयास करें, उसके साथ तन्मयता स्थापित करें। वह आपको कुछ न कुछ सोचने के लिए उकसाएगी और आपका सोचना शुरू हो जाएगा। आप प्रकृति के साथ खेलें। प्रकृति में बिखरी हर चीज के साथ खेलें। उसके साथ रिश्ता जोड़ें - संवाद प्रस्थापित करें। वह अपना सब कुछ आप पर न्यौछावर कर देगी। आपकी औकात के अनुसार आप बटोरते चलें। उसका भंडार कभी खाली नहीं होगा।

हम अपनी ही बात देखें तो पता चलेगा कि प्रकृति को समझ लेने के प्रयास के कारण ही तो मानव प्रगति के इस पड़ाव तक पहुंच पाया है। वैज्ञानिक अपने तरीके से, चित्रकार अपने तरीके से तो अन्य विधा के धनी अपने-अपने तरीके से प्रकृति को समझने का प्रयास कर रहे हैं और प्रकृति भी अपना पूरा सहयोग दे रही है। प्रकृति और मानव के आपसी सहयोग से ही एक स्वस्थ विकास की संभावना है। सहयोग खेल भावना में ही मिल सकता है। यही वजह है कि मैं बच्चों के साथ खेलना चाहता हूं। मुझे वह पुराना अंग्रेजी मुहावरा जंचता नहीं है

'Work while you work, Play while you play, that is the way to be happy and gay.'

'खेल के समय खेल और काम से समय काम' मतलब खेल और काम मानो परस्पर विरोधी बाते हैं। एक का दूसरे के साथ कोई संबंध नहीं। यानि हर बात में अलगाव। इसके विपरीत यदि इन दोनों का समन्वय करें तो? हर काम खेल भावना से क्यों न हो? इस तरीके से तो काम का उबाऊपन तथा उसकी बोझिलता कम होकर खेल-खेल में ही काम अपने आप हो जाए।

मैं तो भई काम को इसी रूप में लेता हूं। घर की आंगन की झाड़ू लगाना, कपड़े धोना या ऐसे कोई भी काम जिससे कि हमारे बहुतेरे लोग जी कतराते हैं करने में मुझे मजा ही आता है। हर काम की अपनी विशेषता होती है, उसका कोई धर्म होता है, हलचल में एक लयकारी होती है। उसे समझने और उसकी लय के साथ लय मिलाते ही वह काम आसान हो जाता है। काम के दौरान कई प्रकार के अनुभव मिलते रहते हैं और काफी कुछ सीखना हो जाता है। मेरे सारे ही चित्र इस प्रकार के खेल के परिणाम स्वरूप काम करते-करते ही बन पड़े हैं। मैं तो खेलता रहा और चित्र अपने आप उभरते रहे। मेरा प्रयास केवल उन्हें खोजने का या थोड़ा बहुत संवार कर दूसरों की अनुभूति के लिए प्रस्तुत करने का रहा। वह भी इतना संयमित कि उसका मूल स्वरूप नष्ट न होने पाए। दर्शकों को केवल इशारा मिल जाए ताकि अपनी कल्पनाशक्ति के द्वारा वे अन्य बातें भी खोज पाएं। आंगन में सफाई करते समय सूखी टहनियां, सूखे हुए पत्ते, फलियां, बीज आदि बेमतलब लगने वाली चीजें मेरा ध्यान खींचती रहीं। उन्हें निहारते, सहलाते हुए निकटता महसूस होने लगी और वे भी अपनी-अपनी विशेषताएं, अपना आकार, बनावट, रंगों की छटाएं वगैरा बारीकियां प्रगट करने लगीं। यही तो उनकी भाषा है। उसे समझ लेने के प्रयास में ही बातचीत का सिलसिला शुरू हो गया। और फिर पानी की बोतल साफ करते हुए उसमें की काई, रंगों की प्लेट ब्रुश, या टेबल की जमी धूल साफ करते समय कपड़े के पोछे पर फैले हुए धब्बे चित्र की प्रेरणा देने लगे। घर की सफाई करने पर झाड़ू में घाघरा फैला कर नाचने वाली गुड़िया का आभास हुआ तो दीवार पर ही मकड़ी के जाले ने चिपक कर चित्र बना दिया। चप्पल टूटी तो मोनालिसा से मेल

जम गया। तो दूसरी पनिहारिन बनकर सामने आई। आम की गुठली में सुअर तो कभी कोई साधु-महात्मा दिखाई पड़े। दूसरी में रवींद्रनाथ, कार्ल मार्क्स तथा आंइस्टीन की याद हो गई। कुर्सी की टूटी हुई पीठ के हिस्से में ध्यानस्थ योगी, फिर वह भगवान महावीर हो, बुद्ध हो, विनोबाजी या रामकृष्ण परमहंस के भी दर्शन होते रहे। पुराने फटे हुए बनियान से ईसा मसीह को मुंबई प्रदर्शनी में देखकर किसी दर्शक की प्रतिक्रिया बड़ी ही मार्के की रही। ईसा का एक वाक्य . 'मैं तो बस एक चिथड़ा हूं। इससे अधिक कुछ नहीं।' का उदाहरण देते हुए ईसा के वाक्य को सार्थ रूप में प्रस्तुत करने का श्रेय उन्होंने मुझे दे दिया।

खाना खाते समय जली हुई रोटी में बच्चे को दूध पिलाती माता की बात कहूं तो वो मेरी बचकानी हरकत लग सकती है। और बात है भी सही। पर केवल उसे संप्रेषित करने के तरीकों में है। अब यदि सच कहूं तो कहां-कहां तक गिनती की जाए इन चित्रों की और उनके प्रेरणा स्रोतों की? हमारे आसपास ही प्रकृति का अखूट भंडार भरा पड़ा है पर उसे उलीचने की क्षमता सीमित है। इसी कारण तो हमें कई बातें बेकार और बेमतलब सी लगती हैं। वास्तव में वे बेमतलब की नहीं होतीं। हम या तो उनका मतलब समझ नहीं पाते या उन्हें मतलब देने लायक कल्पना शक्ति का हम में अभाव होता है। इस अभाव को दूर करने की दिशा में यदि प्रयास किया जाए तो कोई बात बेमतलब और बेकार नहीं लगेगी और उनके साथ एक नया रिश्ता जुड़ सकेगा। और यदि इन निर्जीव लगने वाली चीजों के साथ अपनेपन का रिश्ता जुड़ सकता है तो सजीव प्राणी मात्र के साथ तो जुड़ ही सकता है। बल्कि जोड़ने का प्रयास किया जा सकता है। यह विचार मेरे मन में तब अधिक प्रबल हुआ जब मेरी मुलाकात हुई बाबा आमटे के साथ। निर्जीव वस्तुओं के साथ खेलना आसान होता है, उनकी प्रतिकार शक्ति सजीव प्राणियों की प्रतिकार शक्ति के मुकाबले कम होती है। इसलिए उसे मनचाहे ढंग से ढाला जा सकता है। परंतु मनुष्य के साथ यह बात इतनी आसान नहीं। बाबा ने यह कर दिखाया। कोढ़ियों की मानसिकता में बदलाव लाकर उनकी सुप्त अस्मिता जगाकर उनके द्वारा बड़े-बड़े निर्माण कार्य करवाए और वे भी सहज हंसते-खेलते।

पंद्रह साल पूर्व जब पहली बार मैं उनसे मिला तो उन्होंने एक सवाल रखा, 'अजंता एलोरा हम जाते हैं, वहां भग्न अवयव विहीन शिल्पों व चित्रों की हम सराहना करते हम नहीं अघाते। भग्न कलाकृतियों में भी सौंदर्य खोजने वाला हमारा सौंदर्य बोध क्या केवल चित्र शिल्पों तक ही सीमित है? बिना किसी अपराध जिसके अवयव झड़ चुके हैं, जो अपना रूप खो चुका है ऐसे जीते-जागते हाड़-मास के मनुष्य को तिरस्कार की नजर से देखते हुए सड़क के किनारे खेलते समय हमारा सौंदर्य कहां लुप्त हो जाता है? चित्र शिल्पों की खामियों को तो हम अपनी कल्पना से पूरी कर लेते हैं। उनके रख-रखाव का पूरा ख्याल रखते हैं। वहीं इन विद्रुप अपाहिज कुष्ठ रोगियों से डर कर दूर भागते हैं। क्या उसकी क्षति को पूरा करने लायक कल्पना शक्ति हमारे पास नहीं है?'

यही सवाल मेरे लिए एक संबल बन गया। मनुष्य में कितने सारे पहलू हो सकते हैं। केवल एक ही दृष्टिकोण से उसे परखना उसके साथ अन्याय हो सकता है। बुरे अप्रिय पहलू को नजरंदाज कर क्यों न अच्छे पहलुओं को अपनाएं? किसी के केवल कुछ अंग झड़ जाने पर उसकी उपयोगिता समाप्त थोड़े ही होती है। उसके अंदर अन्य कई संभावनाएं हो सकती हैं। उन्हें जगाकर क्यों ने उसे उपयोगी बनाएं?

मुझे निर्जीव फटी-पुरानी बनियान में ईसा दिखाई दिए तो बाबा की नजर देखिए। कंधे पर हल ढोते हुए किसान में अपना क्रूस ढोने वाले ईसा मसीह को वे देखते हैं और श्रम करते हुए मजदूर की पीठ पर पसीने की बहती धारा में उन्हें ईसा का क्रॉस दिखाई देता है। मेरी नजर से खोजी हुई चीज तो कलाकृति बनती है और बाबा की नजर से . . . ?

हमने कला की, सौंदर्य की या इसी प्रकार कई बातों की परिभाषा कर उसे एक सीमित दायरे में जकड़ दिया है। उस घेरे से बाहर निकलकर व्यापक रूप में सोचने को हम तैयार नहीं हैं। इस कारण हमारा सौंदर्य बोध या कलाकृति की समझ उस व्याख्या के घेरे में ही सिमट कर रहेगी।

पर मेरी अपनी निजी मान्यता इसके ठीक विपरीत है। मुझे तो अपनी कलाकृतियों की अपेक्षा बाबा द्वारा निर्मित की गई कलाकृतियां श्रेष्ठ जान पड़ती हैं। मेरा कितना सीमित दायरा तो बाबा का कितना विशाल और व्यापक।

समाप्त